# कही- अनकही

कुसुमलता मलिक

# कही-अनकही

## कुसुमलता मलिक

# अनुक्रम


| | |
|---|---|
| *आमुख* | *3* |
| *आभार* | *5* |
| *दूसरे संस्करण की भूमिका* | *6* |
| उपहार | 10 |
| कमाई | 72 |
| माँ | 114 |
| अदायगी | 118 |
| गाँठ | 138 |
| सचेतक | 149 |
| घर | 157 |
| निरपराध | 160 |
| मौन का दर्द | 174 |

# आमुख

'कही-अनकही' मात्र एक कहानी संग्रह नहीं है। एक व्यक्ति, एक समाज, एक जीवन, एक समय के सतत संघर्ष का दस्तावेज भी है।

व्यक्ति जो समाज चाहता है किंतु, समाज उसे नहीं चाहता।

समाज जो जीवन चाहता है परंतु, अपनी खोह में क़ैद होने के कारण जीवन से कहीं दूर छिटक गया है।

जीवन जो समय में अपनी दख़ल चाहता है किंतु, विडंबना यह है कि दख़ल करके भी अपने को दर्ज नहीं करवा पाता।

समय जो जीवन की ही तरह, सर्वत्र परिव्याप्त है परंतु, सर्वत्र होकर भी, सभी में एक समान मूर्त तथा गतिशील नहीं हो पाता।

जबकि यह भी सच है कि वह सबके योग से ही बनता है।

सीधे और साफ़ शब्दों में कहूँ तो प्रस्तुत संग्रह में, सीलन और अंधकार से परिव्याप्त उन उपेक्षित कोनों के सन्नाटों को वाणी देने की कोशिश भर है जिनकी

उपस्थिति हमारे आसपास सब कहीं है किंतु, वह उपस्थिति, अनुपस्थिति के बराबर होती है। इसे उपेक्षा की पराकाष्ठा ही कहा जा सकता है।

एक अन्य स्तर पर मेरे मस्तिष्क में हमेशा एक विस्थापन, बेचैनी पैदा करता रहा है जिसके चलते मैं स्वयं को बहुत-बहुत तरह से समझती और समझाती रही हूँ। क्या विस्थापन मात्र एक बाहरी घटना होता है ? या फिर एक साथ चेतन-अवचेतन, भाव, विचार, कार्य, कर्म सभी में सदा-सर्वदा घटता रहता है ? बाहरी घटना तो स्थूल रूप में घटकर समाप्त हो जाती है परंतु, भीतर के जगत में कभी आंधी तो कभी तूफ़ान, कभी चक्रवात तो कभी कंपवात चलते ही रहते हैं। यदि पाठक तक मेरे इन अनुभवों का आंशिक सत्य भी पहुँच सका तो मैं अपने इस प्रयत्न को सार्थक समझूँगी।

शमशेर की कविता 'लेकर सीधा नारा' मुझे अक्सर याद आती है -

''मैं समाज तो नहीं
न मैं कुल जीवन
कण समूह में हूँ
मैं केवल एक कण
कौन सहारा
मेरा कौन सहारा !''

**- कुसुमलता मलिक**

# आभार

कुछ जीवित, चलायमान बिंब, कुछ जलती-बुझती छवियाँ जिन्हें मैं पकड़ने के लिए सदा प्रयत्नशील रही हूँ, उन्हीं का अंकन करने का यहाँ प्रयास किया गया है। इस अंकन के लिए मैं अपने अति संवेदनशील दृष्टिबाधित समाज तथा संवेदनहीन होते अपने परिवेश की ऋणी हूँ। अखिल भारतीय महिला संगठन, ऑल इंडिया कंफड्रेशन ऑफ़ द ब्लाइंड, नेशनल फ़ैडरेशन ऑफ़ द ब्लाइंड आदि संस्थाओं में कार्य करते हुए जिन बहिन-भाइयों के जीवन से मुझे ये कुछ कथासूत्र मिले, उनके प्रति मैं हार्दिक आभार व्यक्त करती हूँ।

27.2.2014

(महाशिवरात्रि)

**- कुसुमलता मलिक**

# दूसरे संस्करण की भूमिका

'कही अनकही' के पाठकों ने जो गौरव मुझे दिया है वह मेरे जीवन की अमूल्य निधि है। श्री अजय मिश्रा ने ईमानदारी के साथ इस पुस्तक के प्रकाशन तथा वितरण का जो कठिन काम किया है वह सचमुच प्रशंसनीय है। इलैक्ट्रोनिक मीडिया की त्वरा के इस युग में यदि हिन्दी पाठक 'कही अनकही' जैसे कहानी-संग्रह को अपनी रूचि का विषय बनाते हैं तो यह मेरे जैसी साधारण लेखिका के लिए न सिर्फ़ संतोषजनक है अपितु उत्साहवर्धक भी है। द्वितीय संस्करण में प्रथम संस्करण की वर्तनी संबंधी त्रुटियों का सुधार किया गया है साथ है ही एक नई कहानी 'मौन का दर्द' भी जोड़ी गई है। वर्तनी सुधार करते समय इस बात का ध्यान रखा गया है कि कहानी की भाव संवेदना के साथ छेड़-छाड़ न हो।

हाशिए के समाज में सबसे पीछे छूट गए विकलांग विमर्श को इस कहानी-संग्रह ने एक पहचान दी है। विकलांग विमर्श को लेकर मेरी चिंता वैयक्तिक न होकर सामाजिक है। समाज अपनी सम्वेत् संरचना में भले ही व्यक्तिरूपी इकाइयों से जुड़कर बनता हो तथापि उसकी औसत मानसिकता ही सामाजिक संबंधों का निर्धारण करती है। सामाजिक संबंधों के समीकरणों को भले ही व्यक्तिगत तौर पर बनाया-बिगाड़ा,

बढ़ाया-घटाया जा सकता हो फिर भी निश्चित तौर पर यह तो सर्वविदित सत्य शेष रह ही जाता है कि समाज प्रायः जड़ हो गई स्थितियों को एकाएक परिवर्तित नहीं होने देता। किसी सामाजिक संबंध को बनाने में जिस प्रकार शताब्दियाँ लगती है ठीक उसी प्रकार उस संबंध विशेष को बदलने में भी कमोवेश उतना ही समय लगता है।

सूचना प्रौद्योगिकी के इस युग में हमारी सामाजिक संवेदना अपेक्षाकृत कुछ कुंद पड़ गई है, उसकी धार भौंथरी हो गई है। आज हमें जल्दी से किसी का दु:ख-दर्द छूता नहीं है किंतु, इसका अभिप्रायः यह कदापि नहीं कि दुःख-दर्द है ही नहीं या मानवता का सारा दुःख-दर्द मिट गया है । नव उपनिवेशवादी पूँजी की विद्रूपता ने सभी सामाजिक संबंधों को क्षत-विक्षत किया है । दूसरी ओर मानवीय करूण से प्रेरित होकर बनने अथवा बढ़ने वाले सम्बन्ध भी आज उपादेयता के सिद्धि साधन में समाप्तप्राय हो गए हैं।

विकलांग भारतीय समाज में प्राचीन काल से उपेक्षित रहे हैं । समानता के अधिकार का दयोतन करने वाली भारतीय संविधान की धाराओं में जहाँ एक ओर जाति, धर्म, क्षेत्र, भाषा, लिंग इत्यादि के आधार पर भेदभाव वर्जित है वही दूसरी ओर विकलांगता के आधार पर किए जाने वाले भेदभाव को स्थान तक नहीं दिया गया है। यह हमारा सौभाग्य है कि हम विश्व का सबसे बड़े लोकतंत्र होने का गौरव रखते हैं। सम्भवत: इसी कारण विशेष विकलांग अधिनियम बन सके। 16 दिसम्बर 2016 को

यू. एन. सी. आर. पी. डी. की तर्ज पर हमें एक नया विशेष विकलांग अधिकार अधिनियम प्राप्त हुआ। विकलांग विमर्श की समयानुसार अलग-अलग भूमिकाएं हैं जिन्हें समझना आवश्यक है।

प्रथम तो विकलांग बच्चा किसी-न-किसी रूप में अपने परिवार में हीन भावना का शिकार बनता है। या तो उसे अधिक दया-ममता मिलती हैं या फिर नहीं मिलती। इसी प्रकार शैक्षणिक संस्थाओं, सामाजिक स्थलों, कार्यस्थलों इत्यादि स्थानों पर भी किसी-न-किसी अमानवीय कारण से उसकी स्थिति विशेष बनी रहती है। हमें इसी विशेष स्थिति को तोड़ना है। विकलांग व्यक्ति भी वैसे ही मनुष्य है जैसे एक सकलांग व्यक्ति। उसकी आवश्यकताएं कुछ भिन्न अवश्य हो सकती हैं परन्तु, इसका अभिप्राय यह नहीं कि वह दूसरों से भिन्न है।

विकलांग विमर्श की एक और विशेषता यह भी है कि वह दूसरे अन्य विमर्शों की अपेक्षा अधिक सामाजिक होने का प्रयत्न करता है। सफ़ल विकलांग व्यक्तियों की आजीवन यही कोशिश रहती है कि वे सामाजिक उपादेयता सिद्ध करते हुए सामाजिक स्वीकृति प्राप्त करें ताकि उनकी ओर से सामाजिक समायोजन सम्भव हो सके जिसका अवरोधक सामने वाला होता है जबकि दूसरे विमर्श समाज में अपनी भिन्नता के परिचायक बिंदुओं को उभारते हैं। विकलांग विमर्श में भिन्न बिंदुओं को मिटाकर समता, स्थापना एक मूल्य के रूप में उभरती है। यही इसकी विशिष्टता है।

मुझे उपलब्ध पाठकों की प्रतिक्रियाओं तथा पत्रों ने विकलांग विमर्श की आवश्यकता पर अत्याधिक बल दिया है । अधिकांशतः पाठकों ने इस संग्रह की कहानियों से अपनी संवेदना का विस्तार किया है, अपनी अनुभूतियों को व्यापकतर किया है और अपनी सामाजिक प्रतिबद्धता को दृढ़तर किया है । पाठकों की प्रतिक्रियाओं से मैं जितना अभिभूत हूँ उतना ही उत्तरदायित्वबोध भी अनुभव करती हूँ।

12/10/2017

**- कुसुमलता मलिक**

प्रो. हिंदी विभाग, कला संकाय

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

110007

# उपहार

अंधी है तो क्या हुआ, बी.ए. कर रही है। भगवान ने रूप तो ऐसा दिया है कि कोई संयमी भी देखे तो ग़श खा जाए ! मौसी प्रायः गर्मियों की छुट्टियों में आतीं और विजया को देखकर इसी तरह की बातें किया करतीं। विजया अब यह सब सुनने की अभ्यस्त हो चुकी थी। बेबस और लाचार आदमी चुप्पी ही में त्राण समझता है।

इन्दौर में आज दिन बहुत गर्म था, हवा भी नहीं के बराबर चल रही थी। गर्मी से धरती गुमसुम थी। ऐसा प्रतीत होता था मानो उसे साँस भी न आ रही हो।

विजया अपने घर की छत पर अकेली थी, उसने चारपाई बिछाकर बिस्तर लगाया और लेट गयी। उसका मन बेचैनी और घबराहट से भर रहा था, यह अजीब-सी घबराहट थी जिसकी लहरों में उसका वर्तमान और भविष्य दोनों डूबते-उतराते थे। उसके भीतर का मौसम भी घुटन भरा था। ऐसी घुटन और अशांति में मनुष्य को अतीत ही के सुख की स्मृति सहारा देती है। उसे रह-रहकर दिल्ली स्थित अंधकन्या विद्यालय का हॉस्टल याद आता था। कितनी सुख-सुविधाओं से भरा-पूरा था सब कुछ और सखियों का तो कहना ही क्या ! दिनभर मस्ती, रात भर मस्ती, ईश्वर ने जैसे बनाया ही सिर्फ़ मस्ती के लिए था। उसके स्मृति पटल पर कई-कई चित्र एक साथ